डॉ० तुलसीराम एम०ए० (दिल्ली), पी-एच०डी० (लंदन), भूतपूर्व अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक एक अनुभवी प्रोफेसर, रिसर्चर और लेखक हैं । आपका शोध-कार्य श्रद्धा, जिज्ञासा और मानवीयता से अनुप्राणित है जो सनातन और नूतन के नित्य-निरंतर गतिशील संगम का सहचारी है । आपकी लेखनी इसी संगम-बिंदु की यात्रा को रेखांकित करती है और यही रेखा देश-काल के संदर्भ में परंपरा-इतिहास-प्रवाह को मानव-परिवार की कहानी का रूप देती है ।

उर्दू, हिंदी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषाविद् आप अंग्रेजी और हिंदी में लिखते हैं । अनेक लेखों के अतिरिक्त अंग्रेजी में आपकी तीन पुस्तकें छप चुकी हैं : 'द नियोक्लासिकल एपिक्' (1971), 'ट्रेडिंग इन लैंग्वेज' (1983) और 'द ओरिजिनल फिलॉसफी ऑफ योग' (1989) । प्रस्तुत पुस्तक आपकी चौथी कृति है । इसका नाम स्वयं अपने विषय को स्पष्ट करता है ।

डॉ० तुलसीराम कई बार इंग्लैंड, यूरोप, कैनडा और अमरीका की यात्रा कर चुके हैं । गांव में जन्मे, गांव और शहर में पढ़े, विश्वयात्री, आप जीवन के विविध और बहुआयामी अनुभव के धनी हैं ।

भारत में अंग्रेजी : क्या खोया क्या पाया — तुलसीराम

भारत में अंग्रेजी

क्या खोया क्या पाया

तुलसीराम

भारत में अंग्रेजी
क्या खोया क्या पाया

"केंद्रीय हिंदी निदेशालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) के संस्वीकृति पत्र सं० एफ० 5-57/95 के० अनु० ए० दिनांक 10.10.96 के माध्यम से प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित। कापीराइट अनुदानग्राही डॉ० तुलसीराम के पास है"

भारत में अंग्रेजी

क्या खोया क्या पाया

डॉ० तुलसीराम

किताबघर
नयी दिल्ली-110002

ISBN—81-7016-368-4

© डॉ० तुलसीराम

प्रकाशक
किताबघर
24, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण
1997

आवरण
चेतनदास

मूल्य
एक सौ छियालीस रुपये

शब्द-संयोजक
सोनी कम्प्यूटर्स
24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

मुद्रक
एस०एन० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

BHARAT MEIN ANGREZI : KYA KHOYA KYA PAYA (Hindi)
by Dr. Tulsi Ram
Price : Rs. 146.00

अपनी बात

अंग्रेजी भाषा आज स्वतंत्र भारत की हवा में रम गई है । उच्च वर्ग इस हवा में सांस लेता है, मध्यम वर्ग सांस लेने के लिए दौड़ता है और साधारण जनसमुदाय दौड़ते-दौड़ते दम तोड़ देता है । इस हवा में सांस लेते-लेते हम यह भी पूछना भूल गए कि इस दौड़ में हमने क्या खोया और क्या पाया । पूछना तो चाहिए क्योंकि हमारे भविष्य का इतिहास अभी लिखा जाना है ।

जब भी हम किसी विदेशी भाषा के संपर्क में आते हैं तो वह भाषा अपने साहित्य के साथ एक नई शक्ति और स्फूर्ति का संदेश लेकर आती है । हमें एक नए इतिहास, नई सभ्यता, नई संस्कृति, नई विचारधारा और नई स्फूर्ति का अनुभव होता है । किंतु वही भाषा जब हमारी अपनी भाषा को उखाड़ देती है और राजभाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में शिक्षा का पर्याय बन कर हमें जकड़ लेती है तो हम अपनी परंपरा और जड़ों से कटने लगते हैं और अपनी अस्मिता को भी खो बैठते हैं । इस प्रकार विदेशी भाषा एक रूप में वरदान होती है और दूसरे रूप में अभिशाप । गुरुदेव रवीन्द्र ठाकुर और गांधी जी राजभाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में अंग्रेजी को अभिशाप मानते थे और चक्रवर्ती राजगोपालाचारी जैसे भाषाप्रेमी सरस्वती का वरदान । प्रश्न यह है कि वरदान किसके लिए और अभिशाप किसके लिए ?

क्या खोया क्या पाया ? किसने खोया किसने पाया ? एक ही वस्तु किसके लिए वरदान है और किसके लिए अभिशाप ? यह प्रश्न सापेक्ष है और इसका उत्तर गणित की भाषा में नहीं दिया जा सकता । अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज से भी हमने क्या पाया, क्या नहीं पाया, और पाने की प्रक्रिया में क्या खो दिया, इन प्रश्नों का भी सर्वसम्मत उत्तर नहीं मिलेगा, किंतु यह चिंतन सारे समाज और राष्ट्र के हित में होगा । हमें इन प्रश्नों पर उदारता, निष्पक्षता, स्वतंत्रता और साहस के साथ व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के संदर्भ में विचार करना चाहिए । हमारी स्वतंत्रता कितनी स्वतंत्र है और कितनी परतंत्र, और यदि हमारी जीवन-शैली और चिंतन-प्रक्रिया में कोई परतंत्रता का अंश या जकड़न है तो वह क्यों है और कहां से आया है, यह सोचना चाहिए । इस पुस्तक में कुछ तथ्य रखे गए हैं और उनकी चर्चा हमारे साहित्य, दर्शन, परंपरा और इतिहास, वर्तमान समस्याओं और भावी संभावनाओं के परिप्रेक्ष्य में की गई है । इस पृष्ठभूमि और परिप्रेक्ष्य का मूल्यांकन भी सापेक्ष हो सकता है और वह पाठक का अपना होगा । इसलिए यह वांछनीय है कि पाठक का दृष्टिकोण भी उदार और निष्पक्ष हो ।

अंग्रेजी राज की देन है देश की प्रशासनिक एकता, देश का विभाजन, पाश्चात्य सभ्यता, अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी भाषा । अंग्रेजी एक सशक्त भाषा है जो अपने द्वार खुले रखती

है । एक जीवंत और सशक्त साहित्य की रचना इसमें हो चुकी है । इसी भाषा के माध्यम से संसार के महानतम साहित्य के द्वार हमारे लिए खुले हैं । अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा हमें न केवल साहित्य ही मिला, हमें नए विज्ञान का प्रकाश भी मिला । इस साहित्य और विज्ञान से हमें एक नया संदेश और नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी मिला । इसी संदेश के साथ एक नई स्फूर्ति हमारे जीवन में आई । रूढ़िवाद और अंधविश्वास को शिक्षित वर्ग ने चुनौती दी और एक नए प्रबुद्ध वर्ग का उदय हुआ । इसी प्रबुद्ध वर्ग के कुछ नौजवानों ने अंग्रेजी के ही माध्यम से राज को चुनौती दे डाली । समाज में एक नई जागृति और नया जोश आया । साहस के साथ जनता ने शासक से लोह लिया, देश स्वतंत्र हो गया । एकता, स्वतंत्रता, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, सतर्क चिंतन-शैली, आशावाद, कर्मठता, नवीनता (माडर्निटी), सभी में अंग्रेजी भाषा, साहित्य और शिक्षा का योगदान है । यह सब माने अंग्रेजी का गुलदस्ता है जो देश के प्रबुद्ध वर्ग (इलीट) के रूप में सजा है और इंगलिश-मीडियम स्कूलों में संवारा जा रहा है । यह तो पाया ।

और यही योगदान पाकर हम दब गए । हमने यह नहीं देखा कि इस गुलदस्ते की जड़ें कट चुकी हैं और यदि हैं तो विदेश में । हमने यह नहीं देखा कि हम अपनी परंपरा, भाषा, साहित्य, विज्ञान और दर्शन से कट गए हैं, और यदि जुड़े भी हैं तो उधार की दृष्टि से । हमने पर्यावरण की चिंता करना पश्चिम के तकनीकी पश्चात्ताप से सीखा किंतु यह याद नहीं रहा कि हमने केवल भूमंडल ही नहीं समस्त सृष्टिमंडल के लिए शांति और स्वस्ति की प्रार्थना की थी । हमने ओषधि, वनस्पति, और समस्त प्रकृति को पवित्र माना था और शक्ति मां के रूप में उसकी आराधना की थी । हमने सूर्य-नमस्कार को अंधविश्वास मान लिया और जीवन-स्रोत से कट गए । हमने साइंस को पाया सांख्य से कटे, तर्क को पाया न्याय से कटे, स्वतंत्र दृष्टि पर चश्मा विदेशी चढ़ा लिया, धर्म को रिलीजन का पर्याय माना और सेक्युलरिज़्म के बहाने धर्मनिरपेक्ष हो गए । यह भूल गए कि सेक्युलरिज़्म का वास्तविक अर्थ है लोकधर्म न कि धर्मनिरपेक्षता । हमने अंग्रेजी को पाया अपनी भाषा को खोया, अपने आप को पाया अपने आप से भय खाया, स्वयं को पाया स्वयं को ही खोया, वर्गविशेष को पाया जनसाधारण को छोड़ा ।

जब कोई विदेशी किसी को कुछ देता है तो परमार्थवश देता है या स्वार्थवश ? बुद्ध भगवान ने चीन, जापान और अन्य देशों को जो दिया परमार्थवश दिया । अंग्रेजी राज ने जो दिया वह स्वार्थवश । अंग्रेजी भाषा और शिक्षा आई तो ब्रिटिश कूटनीति और व्यापार-वृत्ति के अंग के रूप में, गरीबी हटाने के लिए नहीं, धन कमाने के लिए, अंधविश्वास से छुड़ाने के लिए नहीं, धर्म-परिवर्तन के लिए, सांस्कृतिक विजय के लिए, भोगवृत्ति (कंज़्यूमरिज़्म) जगाने के लिए, वर्ग-विशेष को बनाने के लिए और उसके माध्यम से सारे भारत को सदा के लिए मानसिक दासता में जकड़ने के लिए । शिक्षा के हेरफेर में हम से तो हमारी वाणी भी छिन गई ।

संसार के बहुत सारे देशों ने अंग्रेजी को अपनाया है, किंतु अपनी भाषा को छोड़कर नहीं, केवल सहायता लेने के लिए दूसरी भाषा के रूप में, और अंतर्राष्ट्रीय दुनिया में काम चलाने के लिए । उन सबकी अपनी भाषा है—जापान की जापानी, चीन की चीनी, रूस की रूसी इत्यादि ।

भारत की भाषा क्या है, कोई पूछे तो ? हमारे पास तो 'भारती' शब्द भी नहीं है । हिंदुस्तानी है पर वह हिंदी का पर्याय माना जाता है और हिंदी को क्षेत्रीय भाषा कह दिया जाता है । एक समय संस्कृत सारे भारत के शिक्षित वर्ग की भाषा थी । यदि हम उसे संस्कृत (स्टैंडर्ड) न कहकर भारती कहते तो आज भारत की सभी भाषाएँ भारती का ही रूप विशेष होती ।

अंग्रेज लेखकों और शासकों का धन्यवाद है कि उन्होंने भारत की किसी भी भाषा के लिए 'वर्नेकुलर' शब्द का प्रयोग किया । इसलिए मैंने भी साहस करके 'भारत की भाषा' के लिए 'भारती' शब्द का प्रयोग किया है । अंग्रेजों ने वर्नेकुलर (भारती) शब्द तो दिया किंतु भारती के स्थान पर अंग्रेजी को थोप दिया ।

हममें से बहुत सारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग यह नहीं जानते कि इंग्लैंड में ही करीब तीन सौ वर्ष (1066–1362) तक अंग्रेजी राजभाषा नहीं थी । वहां फ्रांसीसियों का राज था और फ्रेंच राजभाषा, बिल्कुल ऐसे ही जैसे भारत में अंग्रेजी । इंग्लैंड की जनता ने इस विदेशी व्यवस्था से तंग आकर फ्रेंच के विरुद्ध अंग्रेजी के पक्ष में आवाज उठाई और तीव्र सामाजिक आंदोलन किया । परिणामस्वरूप अक्तूबर 1362 में वहां की पार्लमेंट ने एक प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार 1 जनवरी, 1363 को अंग्रेजी को राजभाषा बना दिया गया । प्रस्ताव में फ्रेंच को इंग्लैंड की जनता के प्रति षड्यंत्र (मिस्विफ़) का नाम दिया गया है । यदि विदेशी भाषा इंग्लैंड में मिस्विफ़ थी तो भारत में अंग्रेजी को क्या कहेंगे ? वरदान या षड्यंत्र ?

इस पुस्तक का श्रीगणेश 1942 में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के अगले दिन से हो गया था । उस दिन हमें यह बताया गया था कि अंग्रेजी राज एक अभिशाप है और अंग्रेजी भाषा एक मानसिक शिकंजा जो केवल स्वामी-भक्त क्लर्क बनाने के लिए और भारत की सांस्कृतिक विजय के लिए राजभाषा और राजशिक्षा के रूप में कसा गया था । तत्पश्चात् मैंने लंदन में 1960 में बैंक आफ इंग्लैंड के इतिहास और उपलब्धियों पर एक चलचित्र देखा । चलचित्र में भारत से लाई गई सोने की ईंटें इंग्लैंड की बंदरगाह पर जहाजों से ऐसे उतरती देखीं जैसे हमारी गलियों में ठेले से पत्थर उतरते हैं । मुझे लार्ड मकाले के शब्द याद आए । उन्होंने 1833 में पार्लमेंट में भारत शिक्षा प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा था कि मैं यह नहीं चाहता कि भारत की अनपढ़ जनता अंग्रेज अफसरों को दिन में दस बार सलाम झुकाए । मैं चाहता हूं कि भारत के लोग अंग्रेजी पढ़ें, अंग्रेजी सभ्यता के रंग में रंगे जाएं और हमारे कारखानों में बने माल के खरीदार बनें । 1854 के शिक्षा परिपत्र के पीछे प्रेरणा थी अंग्रेजी व्यापार—अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी सभ्यता, भारत में कच्चे माल का उत्पादन और इंग्लैंड में बने पक्के माल की खपत । 1942 में जाते-जाते लार्ड वैवल लिख गए कि भारत के साथ शिक्षा के क्षेत्र में हमने भयंकर खिलवाड़ की है । हमने भारत को शिक्षा दी, किंतु न चरित्रनिर्माण के लिए, न अनुशासन के लिए । परिणाम यह है कि आज उसके पास न चरित्र है न अनुशासन । यदि भारत एक राष्ट्र बनना चाहता है तो उसे चरित्र और अनुशासन दोनों जुटाने पड़ेंगे ।

हमारे सामने प्रश्न यह है कि क्या स्वतंत्र राष्ट्र बनने के लिए मात्र विदेशी भाषा और विदेशी

विचारधारा पर्याप्त है ? शिक्षा क्या मात्र व्यापार और व्यवसाय का साधन है ? क्या राष्ट्रीय शिक्षा के साथ देश के इतिहास, परंपरा और सामाजिक व्यवस्था का कोई जीवंत संबंध है ? यदि है तो हमने स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् 50 वर्षों में क्या किया ? आज के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक वातावरण में ये प्रश्न उत्तर चाहते हैं । भारत जैसे समृद्ध परंपराशाली देश में आज भी अंग्रेजी का राजभाषा और शिक्षा-माध्यम के रूप में बने रहना या तो संसार का आठवां आश्चर्य है या इतिहास का अभिशाप या हमारी स्वतंत्र परतंत्रता का प्रतीक ।

भारत में अंग्रेजी क्यों आई, कैसे आई, कैसे फैली, यह कहानी इस पुस्तक में अधिकतर अंग्रेजों की जुबानी सुनाई गई है । अंग्रेज चले गए, अंग्रेजी रह गई, क्यों नहीं गई, क्यों जमी हुई है ? कहानी का यह भाग हमारे देश के कर्णधारों के शब्दों में सुनाया गया है । लार्ड एल्फिंस्टन ने ठीक ही कहा था कि अंग्रेजी राज के पश्चात् स्वतंत्र भारत में भी अंग्रेजी भाषा राज के कीर्तिमान के रूप में खड़ी रहेगी ।

धन्यवाद है केंद्रीय हिंदी निदेशालय का । निदेशालय के ही उदार अनुदान से यह पुस्तक पाठकों के सामने प्रस्तुत की जा रही है । विषय क्योंकि आज की हवा से थोड़ा हटकर है इसलिए प्रबुद्ध पाठकों से अनुरोध करूंगा कि अपनी निष्पक्ष राय बनाकर लेखक/प्रकाशक को अवश्य भेजें ।

28/15, शक्ति नगर
दिल्ली-110007

तुलसीराम

समर्पण

मेरी निरंग्रेजी पत्नी के लिए

तुलसीराम

क्रम

1.	स्वर्ण द्वार ...	11
2.	कुंजी का संकेत ...	15
3.	बीस वर्ष बाद ...	23
4.	लक्ष्य की ओर ...	31
5.	सस्ते नौकर ...	36
6.	नई हवा : नया नशा ...	41
7.	राजा राममोहन राय : पुनर्जागृति का प्रश्न ...	46
8.	लक्ष्य की रूपरेखा ...	50
9.	ग्रांट के मानस-पुत्र—लार्ड मकाले ...	55
10.	लक्ष्य-वेध—मकाले का शिक्षा-प्रस्ताव ...	60
11.	राज की सेवा में ...	69
12.	एकैवेति चरैवेति ...	80
13.	स्व-भाव और पर-भाव ...	86
14.	समरथ का परनाला ...	92
15.	शिक्षा-परिपत्र (1854) ...	101
16.	छतर बिनु छाया ...	110
17.	बरगद और बूटे ...	120
18.	धान के छिलके ...	135
19.	कर्ज़न भए उदास ...	146
20.	बूर के पूए ...	156

21. मित्रभेद ... 165
22. शब्दभेद ... 177
23. राजसरस्वती ... 185
24. प्रकृति और प्रतिशोध ... 201
25. नया सवेरा ... 212
26. सवेरे का अंधेरा ... 224
27. मेहमान की नजर से ... 235
28. मेरी मजबूरियां तो देख ... 246
29. चढ़ता सूरज, बढ़ती छाया ... 255
30. आगे देखो, पीछे चलो ... 263
31. संगति : राष्ट्र की पहचान ... 273
32. संवाद : समाज की पहचान ... 288
33. राजभाषा विकास : समस्या और समाधान ... 297
34. भाषा और संचेतस् : जागो तभी सवेरा ... 308

1
स्वर्ण द्वार

संस्कृति समाज की आत्मा है । सभ्यता संस्कृति का साकार रूप है, उसकी बाहरी परिभाषा है, और भाषा संस्कृति और सभ्यता की अभिव्यंजक है । समाज इनका आश्रय है । समाज और संस्कृति, भाषा और सभ्यता, ये चारों साथ-साथ चलते हैं । इतिहास इनका प्रवाह है । इस प्रवाह (इतिहास) के नैरंतर्य का सूत्रात्मा है परंपरा, शिक्षा सूत्रधार ।

दूसरे शब्दों में परंपरा इतिहास का मनस्पटल है जो सूत्र रूप में अतीत की गहराइयों से जनमानस की आशाओं, आकांक्षाओं, आदर्शों और वास्तविकताओं को समेटे छन-छनकर निरंतर वर्तमान के अंतस्तल में उभरती है और उभरती रहती है । इन्हीं गहराइयों से वर्तमान के परिवेश में भावी संकल्प जन्म लेते हैं और ये संकल्प ही साकार होकर समाज के भविष्य का निर्माण करते हैं । साहित्य हमारी परंपरा का जीता-जागता मुंहबोलता रूप है और सामूहिक लोकादर्शों और वास्तविकताओं का संगम है—सनातन, नित्य नूतन । शिक्षा सनातन से नूतन का सर्जन करती है और परिवेश के संदर्भ में इतिहास और परंपरा को नया और जीवंत मोड़ देती है ।

विकासशील समाज में संस्कृति और सभ्यता, इतिहास और परंपरा, शिक्षा और भाषा में तालमेल बनाए रखने में व्यवस्था का बहुत बड़ा योगदान होता है । राजशासन समाज-व्यवस्था का कर्णधार होता है । इसीलिए राज और समाज का घनिष्ठ संबंध है । राज यदि समाज का अंग न होकर केवल सत्ता के आधार पर शासन करे तो समाज की परंपरा एवं व्यवस्था दोनों के अंदर विकास की जगह विकार आने लगता है । विकार एक नई दिशा में आगे चलकर विकास भी बन सकता है और केवल विकृति का कारण भी बना रह सकता है ।

वैदिक काल से लेकर मध्य युग के प्रारंभ तक भारतीय समाज में परंपरा, व्यवस्था और विकास तीनों में संतुलन बना रहा । भाषा, सभ्यता और संस्कृति इन तीनों में भी तालमेल बना रहा । किंतु जब से विदेशी राज भारत में स्थापित हुआ यह तालमेल बिगड़ना शुरू हो गया । इतिहास ने एक नया मोड़ लिया जिसके फलस्वरूप नए ढंग की उपलब्धियां कभी मिलीं और कभी नहीं मिलीं । अंग्रेजी काल में यह नया मोड़ हमें अपनी सहज अवस्था और व्यवस्था से बहुत दूर ले गया जिसका लेखा-जोखा पूरे तौर पर अभी भी देखा जाना है ।

1960 में मैं और मेरे कुछ साथी लंदन में भारतीय छात्रावास में रह रहे थे । उसी वर्ष 'बैंक ऑफ इंग्लैंड' अपनी शताब्दी के अवसर पर उत्सव मना रहा था । हममें से पंद्रह छात्रों को उत्सव में आमंत्रित किया गया । हम उत्सव देखने गए । बेसमेंट में हीट कंट्रोल रूम से लेकर

सबसे ऊपर की मंजिल पर गवर्नर के कमरे तक सारे भवन को देखा। गवर्नर का कमरा नया बना था किंतु पूरे तौर पर पुरानी शैली में, जैसा पहले कभी बना था। उसमें हवा की दिशा को दिखाने वाली एक घड़ी लगी थी। हमने पूछा, यह किसलिए ? हमारे गाइड महोदय ने बताया कि यह उस समय का प्रतीक है जब जहाज भाप से नहीं पवन शक्ति से चलते थे। जब भारत से व्यापार प्रारंभ हुआ उस समय प्रायः सभी जहाज पवन शक्ति से ही चला करते थे। भारत से आने वाले जहाज जिब्राल्टर को पार करने के बाद दक्षिण से उत्तर दिशा में इंग्लैंड की ओर आते थे। अतः जब दक्षिण की हवा चलती तो जहाज उत्तर की ओर चलते और इंग्लैंड की बंदरगाह पर पहुंचते थे। जब यह हवा दक्षिण की ओर संकेत करती तो आशा होती थी कि जहाज आने वाले हैं। बैंक और बंदरगाह पर तैयारियां शुरू हो जाती थीं। इस भूमिका के पश्चात् हमने चित्रपट पर एक छोटी-सी फिल्म देखी जिसमें बैंक का इतिहास दिखाया गया था। फिल्म में घड़ी की सूई एस पर पहुंची और फिर एक घोषणा की गई "भारत से जहाज आ पहुंचे हैं।" हमने जहाजों से सामान उतरते देखा। हाथ-ठेली से सोने की ईंटें ऐसे उतारी गईं जैसे ठेले से गली में ईंट-पत्थर उतारे जाते हैं। उन ईंटों की खनखनाहट आज भी कानों में गूंज रही है।

विलियम शेक्सपियर के समकालीन कवि क्रिस्टोफर मार्लो ने एक नाटक लिखा है—'डा० फाउस्टस्'। उसका नायक डा० फाउस्टस् जादुई साइंस के द्वारा फरिश्तों को अपने वश में करके भारत से सोना मंगवाने के सपने देखता है। डा० फाउस्टस् और ईस्ट इंडिया कंपनी दोनों समकालीन थे। भारत अपनी समृद्धि विशेषकर सोने के लिए विख्यात था। पं० सुंदरलाल की ऐतिहासिक कृति है 'भारत में अंग्रेजी राज' (इलाहाबाद 1938)। उसके आवेष्टन पृष्ठ पर विख्यात फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर के शब्द उद्धृत हैं। बर्नियर कहता है कि भारत एक ऐसा देश है जहां सारी दुनिया का सोना आकर इकट्ठा होता है और बाहर नहीं जाता। उसी सोने को हमने 1960 में ईंट-पत्थर की तरह बाहर जाते देखा।

प्रश्न है कि भाषा और सोना इन दोनों में क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर मकाले और चार्ल्स ग्रांट इत्यादि विचारकों एवं शासकों के वक्तव्यों से मिल जाता है। भाषा, संस्कृति और सभ्यता का जो स्वाभाविक संबंध है उसी को उन्होंने शिक्षा और व्यापार के साथ जोड़ दिया।

सत्तरहवीं-अठारहवीं शतियों में भारत की सभ्यता, संस्कृति, भाषा, शिक्षा एवं आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के बारे में जो भी पश्चिम यूरोपियन और अंग्रेज शासकों, व्यापारियों और साहसिकों को मिलता था वह व्यापारियों और पर्यटकों से ही मिलता था। उस समय का भारत भी सोया ही पड़ा था। राममोहन राय, दयानंद, विवेकानंद और गांधी—इन सबका जन्म हुआ नहीं था। मुगल शासन का पतन हो रहा था। अकबर और दारा की जिज्ञासा शांत हो चुकी थी। धर्म के स्थान पर मत-मतांतरों और श्रद्धा की जगह अंधविश्वास ने ले ली थी। छोटे-छोटे गांवों का यह देश छोटे-छोटे रजवाड़ों में बंटकर रह गया था। किंतु फिर भी यह विभिन्नता एक सूत्र में पिरोई गई मणियों के रूप में एक ऐसी सुंदर माला थी जिसकी आत्मा थी यहां की संस्कृति। उस संस्कृति का आधार था हृदयांकित समदर्शन। उसे बाहर से आने वाला पर्यटक

या व्यापारी एकदम नहीं देख सकता था। उसे साधना का समय कहां ? अतः भारत को उन्होंने दो रूपों में देखा : व्यापार के लिए एक विशाल क्षेत्र और मिशनरी काम के लिए एक पिछड़ा हुआ समाज। उन्होंने दोनों क्षेत्रों में काम करना प्रारंभ किया। दोनों कामों में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से सहायता मिली।

1757 में प्लासी युद्ध में विजय के फलस्वरूप कंपनी एकमात्र विदेशी सत्ता के रूप में उभरने लगी। 1763 में तीसरे फ्रांसीसी युद्ध में उन्होंने फ्रांस को हरा दिया। तब तो वह एकमात्र विदेशी सत्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम से उन्होंने बंगाल की दीवानी प्राप्त कर ली। दीवानी अधिकार मिलने के बाद कंपनी 'कंपनी बहादुर' बन गई। शासन और व्यापार के साथ-साथ कंपनी बहादुर ने भारत की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था के बारे में भी सोचना प्रारंभ किया। यह इंग्लैंड की शासन परंपरा के अनुसार ही था।

कंपनी की स्थापना सन् 1600 में हुई थी। तभी से उनकी धर्म और शिक्षा संबंधी आकांक्षाएं तो थीं किंतु वे थीं निजी, राजसत्ता के रूप में नहीं। 1614 में उन्होंने कुछ भारतीयों को क्रिश्चियन बनाकर अपनी सर्विस में लिया और उनको ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए उचित शिक्षा दी। 1659 में कंपनी के निदेशकों ने स्पष्ट शब्दों में यह इच्छा व्यक्त की कि हर कीमत पर भारत में ईसाइयत का प्रचार किया जाना चाहिए। 1698 में एक अध्यादेश जारी किया गया कि कंपनी की प्रत्येक फैक्टरी में एवं 500 टन या उससे अधिक बड़े जहाज पर एक या एक से अधिक पादरी रखे जाएं, जो कंपनी के कर्मचारियों में प्रोटेस्टेंट मत का प्रचार करें। इन्हीं कर्मचारियों के बच्चों के लिए एवं एंग्लो-इंडियन बच्चों को शिक्षा देने के लिए स्कूल भी खोले गए। किंतु यह सारा काम कंपनी ने एक सेठ के रूप में किया, सरकार के रूप में नहीं। सेठ आकांक्षी तो होता ही है। कंपनी द्वारा यह काम भी दो उद्देश्यों को लेकर किया गया : अपने भगवान विशेष को प्रसन्न करने के लिए और रोमन कैथलिक मत-प्रचार रोकने के लिए।[1]

राजसत्ता संभालने के पश्चात् एक और ध्येय कंपनी के सामने आया, वह था भारत की जनता की सद्भावना प्राप्त करना। भारतीय जनता के महत्त्वपूर्ण अंग दो थे : एक हिंदू, दूसरे मुसलमान। कंपनी चाहती थी कि इन दोनों को अपने-अपने धर्म और संस्कृति की सेवा से संतुष्ट किया जाए और साथ ही हो सके तो इन्हें कुछ नौकरियां भी दे दी जाएं। नौकरी के लिए आवश्यक था कि इन्हें पहले तैयार किया जाए फिर नौकरी दी जाए। इसी ध्येय को सामने रखते हुए गवर्नर-जनरल वारन हेस्टिंग्ज़ ने 1780 में कलकत्ता मदरसा की स्थापना की जो पूर्णतया मुस्लिम संस्था थी। इसी उद्देश्य से सर जोनथन डंकन ने 1791 में बनारस संस्कृत कालेज की

1. एन०एन० ला, 'प्रोमोशन आव् लर्निंग इन इंडिया बाई अर्ली यूरोपियन सेट्लर्ज' (लंदन, 1915), पृ० 5, 7, 8
डब्ल्यू० एच० शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्युकेशनल रिकार्ड्स' (कलकत्ता, 1920), पार्ट I, पृ० 3
सर सी० इल्बर्ट, 'गवर्नमेंट आफ इंडिया' (1914), पृ० 29
जे० डब्ल्यू०के०, 'एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि ईस्ट इंडिया कंपनी' (किताब महल, 1966), भाग 5, पृ० 58

स्थापना की।[2] यह कालेज पूर्णतया हिंदू संस्था थी। ध्यान रहे कि हिंदू और मुसलमानों को अलग-अलग प्रसन्न करने का यह ब्रिटिश प्रयास 1947 तक चलता रहा और हम इसके निकटवर्ती परिणाम को भी न समझ पाए, फिर दूरवर्ती परिणाम को तो समझते ही कैसे ?

कंपनी सरकार की स्पष्ट नीति यह थी कि सबसे पहले भारत में सरकार की जड़ें पक्की की जाएं। उसका आधार हो हिंदू और मुसलमानों की सद्भावना। सरकार की इच्छा थी कि भारतीय परंपरा की हिंदू और मुस्लिम दो धाराओं के आधार पर ही शासन चलाया जाए ताकि जनता में सरकार के प्रति किसी प्रकार का असंतोष उत्पन्न न हो। प्रसिद्ध इतिहासकार विंसेंट स्मिथ ने 'आक्सफोर्ड हिस्ट्री आव् इंडिया' (पृ० 514) में कंपनी सरकार की इस नीति की चर्चा एवं प्रशंसा की है।

भारतीय भाषाओं एवं साहित्य के प्रति कंपनी सरकार अथवा हेस्टिंग्ज़ जैसे शासकों की कितनी श्रद्धा थी, या कितना सत्ताप्रेम था ? इस पर अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार मतभेद रहेगा, विशेषकर भारतीय इतिहासकारों में। याद रहे कि उसी समय सर विलियम जोन्स के प्रयास से 1785 मे एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल की स्थापना भी हुई थी। किंतु एक बात स्पष्ट थी कि अभी तक अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा को सत्ता का माध्यम बनाने पर गंभीरता से विचार नहीं किया गया। सबसे पहली समस्या थी सरकार की जड़ों को मजबूत करना। सरकार का संशय और भय बना हुआ ही था। लार्ड कार्नवालिस ने 18 अप्रैल, 1789 में अपने एक पत्र में कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ को लिखा था कि मेरे विचार के अनुसार हम सबको यह मानकर चलना चाहिए कि बहुत बड़ी और सुदृढ़ यूरोपियन सेना के बिना इस बहुमूल्य देश पर हमारा कब्जा बिल्कुल ऐसा है जैसे रेत पर बनी दीवार।[3] ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा अथवा भाषा का कोई ऐसा कार्यक्रम विचारणीय नहीं समझा गया जिससे स्थानीय परंपरा को चोट पहुंचे और वह आगे चलकर राजसत्ता के लिए संकट पैदा कर दे। अतः संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा और भाषा इन सब को जैसे का तैसा छोड़ देने का प्रयास ही जारी रखा गया। केवल सत्ता और व्यापार पर जोर दिया गया जो पूर्णरूप से सफल रहा। यहां भी गरम की बजाय नरम नीति ही अपनाई गई। पिट्स इंडिया ऐक्ट (1784) में ही पार्लमेंट की इस घोषणा से स्पष्ट है, "भारत में कोई युद्ध विजय की स्कीम अथवा राजविस्तार इस राष्ट्र (अर्थात ब्रिटेन) की इच्छा, नीति तथा कीर्तिमान के विरुद्ध है।"[4] इस घोषणा की आवश्यकता क्या थी ?

2. ए० हॉवल, 'एज्यूकेशन इन ब्रिटिश इंडिया प्रायर टू 1854 एंड इन 1870-71' (कलकत्ता, 1872), पृ० 11
   डब्ल्यू० एच० शार्प, पृ० 11-12
3. माइकल एडवर्ड्ज़, 'ब्रिटिश इंडिया' 1772-1947' (लंदन, 1967), पृ० 49 एवं सी०एच० फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी' 1784-1834' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1961), पृ० 35, 159
4. उद्धृत : पी०ई० राबर्ट्स, 'हिस्ट्री आव् ब्रिटिश इंडिया' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, तीसरा संस्करण, पुनर्मुद्रित, 1958), पृ० 232

2
कुंजी का संकेत

संशय और विश्वास के मिले-जुले वातावरण में एक नई विचारधारा उभरी। लार्ड मकाले से चालीस वर्ष पूर्व इस नई दिशा के अग्रणी नेता थे चार्ल्स ग्रांट।

चार्ल्स ग्रांट लार्ड मकाले के पिता जकारी मकाले के मित्र थे और विलियम विल्बरफोर्स के साथी थे। विल्बरफोर्स अपने समय के पिछड़े वर्ग के नेता थे। ये तीनों अर्थात् जकारी मकाले, विलियम विल्बरफोर्स और चार्ल्स ग्रांट इवांजलिस्ट संप्रदाय के ईसाई थे और सेवा-कार्यरत रहते थे। ये तीनों पार्लमेंट के सदस्य थे और इवांजलिस्ट संप्रदाय का प्रतिनिधित्व करते थे। वह संप्रदाय 'क्लेपहम सेक्ट' के नाम से जाना जाता था। ये तीनों मित्र अपने को खुदाई खिदमतगार समझते थे और गरीबों के हितैषी बनकर भ्रातृभाव से जनसेवा करते थे।

सेवा और भ्रातृभाव के इस वातावरण में चार्ल्स ग्रांट ने भारतीय जनता के विषय में भी सोचा किंतु भारत विजय के परिवेश में उनका भ्रातृभाव स्वस्वामि-भाव में बदल गया। वे समझते थे कि भारत की जनता सदियों से अज्ञान और अंधकार में पड़ी सोती रही है। शासक होने के नाते कंपनी सरकार का कर्तव्य है कि उनको जगाए और उन्हें शिक्षा और नए ज्ञान की दीक्षा दे। इसी आशय से 1792 में उन्होंने एक प्रस्ताव तैयार किया जिसका शीर्षक था : 'आब्जर्वेशंज़ ऑन दि स्टेट आफ सोसाइटी अमंग दि एशियाटिक सबजैक्ट्स आव् ग्रेट ब्रिटेन पर्टिकुलरली विद रिस्पेक्ट टु मॉरल्ज एंड दि मींज़ आव् इंप्रूविंग इट्'।

ग्रांट के 'आब्जर्वेशंज़' पुस्तक रूप में लंदन में 1797 में छपे थे। किंतु 1792-93 में तो इस प्रस्ताव की प्रतियां बनवाकर ही पार्लमेंट के सदस्यों में बंटवा दी गई थीं ताकि उन्हें भारत की जनता की धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक अवस्था का पता चले और उनकी दयनीय दशा को ध्यान में रखकर वे इस जनता के शासक के रूप में अपने खुदाई कर्तव्य का ध्यान कर सकें। ग्रांट आशा करते थे कि 'आब्जर्वेशंज़' के आधार पर वे पार्लमेंट के सदस्यों के मन में भारतीय जनता के प्रति सच्ची ईसाई सद्भावना जगा सकेंगे। 1793 में कंपनी का चार्टर नवीनीकरण के लिए पार्लमेंट के सामने आना था। ग्रांट उस समय भारतीय शिक्षा और भाषा के संबंध में कंपनी के दायित्व को समझते हुए पार्लमेंट में एक प्रस्ताव लाना चाहते थे। उसी प्रस्ताव की भूमिका के रूप में 'आब्जर्वेशंज़' की प्रतियां बंटवाई गई थीं।

चार्ल्स ग्रांट एक निर्भीक विचारक और कर्मठ समाज-सेवी थे। वे विल्बरफोर्स के साथ कंधे से कंधा मिलाकर दास प्रथा और दासवाद के विरुद्ध भी लड़ते थे। इवांजलिस्ट ईसाइयत

के सेवाकार्य में पूर्ण सहयोग देते थे। इसी अभय और सेवाभाव से प्रेरित होकर अपने 'आब्जर्वेशंज़' में उन्होंने कुछ ठोस सुझाव दिए जो आगे चलकर भारतीय शिक्षा और सरकारी भाषा के संबंध में नींव का पत्थर बन गए, और आज भारत के गले का हार बने हुए हैं। वे सुझाव थे :

1. भारत में शिक्षा का प्रसर कंपनी सरकार की वैधानिक जिम्मेदारी हो।
2. भारत में पाश्चात्य शिक्षा पद्धति लागू की जाए।
3. शिक्षा के विषय हों साइंस, इंजीनियरिंग, कलाकौशल, सामान्य ज्ञान और साहित्य।
4. अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाए।
5. अंग्रेजी भाषा को सरकारी भाषा बनाया जाए।
6. अंग्रेजी को सरकार और जनता के बीच संपर्क-भाषा के रूप में प्रयोग किया जाए।
7. अंग्रेजी ऐसी कुंजी है जिससे भारत के लिए विचारों की नई दुनिया के द्वार खुल जाएंगे और अंग्रेजी स्कूलों में नौजवानों की भीड़ लग जाएगी।

संशय, भय और अविश्वास के वातावरण में चार्ल्स ग्रांट एक नया विश्वास, नई आशा और नया संदेश लेकर आए। इस नई शक्ति का स्रोत था उनका धार्मिक मनोबल, एक सशक्त शासक का स्वाभिमान और शासित वर्ग के प्रति अपने दायित्व का एहसास।

इस नई विचारधारा के पक्ष में ग्रांट ने इतिहास का सहारा लिया। उन्होंने कहा कि जब मुगलों ने भारत में अपना राज्य स्थापित किया था तो अपनी भाषा भी साथ ही लागू कर दी थी। कितने वर्षों से भारत में अंग्रेजी राज कायम हो चुका है और हमारी सरकार भारतीयों की उन्हीं जंगली भाषाओं के जंजाल में फंसी हुई है। यह शर्म की बात है। उचित तो यह है कि कंपनी सरकार मुगलों से शिक्षा ले और तुरंत अंग्रेजी भाषा को शिक्षा और सरकारी काम में लागू कर दे। उन्होंने कहा कि भारतीय जनता हमारी प्रजा है। वर्षों से हम उन पर राज कर रहे हैं। यह निर्णय हम करेंगे कि कौन-सा भाषा-माध्यम हम अपनाएंगे। यह अधिकार हमारा है। हम जो चाहें कर सकते हैं।[1]

जनता, सरकार, शिक्षा पद्धति, सरकारी भाषा और शिक्षा-माध्यम के संबंध में यह विचारधारा आज के संदर्भ में केवल ऐतिहासिक संग्रहालय में रखने योग्य है। किंतु साम्राज्यवाद के संदर्भ में चार्ल्स ग्रांट की दलील बिल्कुल सही थी। भाषा, सरकार और समाज का परस्पर संबंध जैसा आज समझा जाता है वैसा ब्रिटिश साम्राज्य के समय नहीं समझा जाता था। ब्रिटेन में भी जनता और सरकारी भाषा का जो संबंध सन् 1363 से समझा जा रहा था यह भाषा-साम्राज्यवाद उसके भी विरुद्ध था। भारत में, यहां तक कि ब्रिटेन में भी, बहुत कम लोग यह जानते हैं कि वहां ग्यारहवीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक करीब चार सौ वर्ष तक राजभाषा अंग्रेजी नहीं थी।

1. उद्धृत : सय्यद नूरुल्ला और जे०पी० नायक, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया' (मैकमिलन, 1951), पृ० 77

इंग्लैंड में फ्रांसीसी हुकूमत के कारण राजभाषा भी फ्रेंच थी। इंग्लैंड की जनता ने तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में फ्रेंच के विरुद्ध आवाज उठाई थी। यहां की जनता फ्रेंच भाषा को राजसत्ता और सामंतवाद का षड्यंत्र कहकर पुकारती थी। 1362 में पार्लमेंट ने यह प्रस्ताव पास किया था कि जनवरी, 1363 से ब्रिटेन की राजभाषा अंग्रेजी होगी। स्वयं पार्लमेंटरी स्टेट्यूट के अंदर फ्रेंच भाषा को दो बार 'षड्यंत्र' का नाम दिया गया है।[2] किंतु चार्ल्स ग्रांट जनता के हितों के लिए नहीं बोल रहे थे, वे तो शासक की ओर से बोल रहे थे और साम्राज्यवाद की आचार-संहिता के अनुसार उनका वक्तव्य ठीक था। दलील बड़ी सीधी थी : भारत की जनता हमारी है। हमने उन्हें जीता है। लंबे समय से वे हमारे कब्जे में हैं। हम अपनी इच्छा से उनकी शिक्षा और भाषा के बारे में फैसला करेंगे। और क्यों न करें ?

साम्राज्यवाद या साम्राज्य-प्रेम मात्र अपने आपसे तर्क का काम नहीं कर सकता। इस कारण चार्ल्स ग्रांट को अपने साथियों के लिए तर्क का एक नया ढांचा खड़ा करना पड़ा। उन्होंने अपने समय की धार्मिक, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी भावनाओं को जगाया। उनके सभी भय और शंकाओं का समाधान करते हुए उनकी क्रिश्चियन आत्मा और कर्तव्य-भावना का उद्बोधन किया कि निश्शंक अपना काम करो, अपने लक्ष्य को प्राप्त करो और लक्ष्य-प्राप्ति में यदि कोई बलिदान देना पड़े तो निस्संकोच वह बलिदान भी दो।

ग्रांट महोदय ने अपने साथियों को विश्वास दिलाया कि अंग्रेजी भाषा और शिक्षा का प्रचार उस मंद गति से नहीं होगा जिससे फारसी अथवा अरबी भाषा का हुआ था। अंग्रेजी भाषा साहित्य और विज्ञान का प्रचार एकसाथ बड़ी तेजी से सैकड़ों-हजारों विद्यार्थियों तक पहुंचेगा और उनके मन, बुद्धि व आत्मा को सैकड़ों वर्ष के अंधकार से मुक्त करके एक नई रोशनी और अद्भुत आंतरिक स्वतंत्रता प्रदान करेगा। इस प्रकार अंग्रेजी के माध्यम से भारत की जनता के सामने पश्चिम के क्षितिज से एक नए सूर्य का उदय होगा। इस नए प्रकाश का नाम होगा—बुद्धि-विकास और विज्ञान। इस प्रकाश से अंधविश्वास का तिमिर छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

चार्ल्स ग्रांट अंग्रेजी, साइंस और ईसाइयत को एकसमान मानते थे। वे यह भी मानते थे कि यहां बुद्धि और विज्ञान का संदेश नई चेतना और सच्चे धर्म का उद्बोधन करेगा। उनकी मान्यता थी कि हिंदू धर्म अंधविश्वास का एक बवंडर मात्र है। उन्होंने कहा कि जहां-जहां यह नया ज्ञान पहुंचेगा—मूर्तिपूजा, झूठे देवताओं की भीड़, लकड़ी-पत्थर के बने देव-दानव, झूठे सिद्धांत और भ्रष्ट कर्मकांड, संदिग्ध आशाएं और खोखले भय, बेहूदा संस्कार और घिनौना अंधविश्वास, झूठे किस्से-कहानियां और ठगविद्या, ये सब आडंबर ढह जाएंगे। केवल एक अनंत और पूर्ण भगवान में विश्वास और उसी की बुद्धिसम्मत सेवा की स्थापना होगी। उसी भगवान की भक्ति, मानव मात्र के प्रति प्यार और सद्भावना ईसा के सच्चे धर्म के अनिवार्य सिद्धांत बनेंगे।[3]

2. ए०सी०बॉ, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश लैंग्वेज' (इंडियन संस्करण, दिल्ली, 1978), पृ० 177-78
3. देखिए : सय्यद महमूद, 'ए हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया' (अलीगढ़, 1895), पृ० 13-14

यह कठोर भाषा है किंतु उस समय के धर्म-प्रचार की शैली यही थी । यह स्मरणीय है कि प्रारंभ में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के प्रचार का ध्येय था भारत की धार्मिक और संस्कृतिक विजय । प्रत्येक भाषा उसमें व्याप्त संस्कृति का शाब्दिक रूपांतर होती है । चार्ल्स ग्रांट समझते थे कि अंग्रेजी भाषा की अंतरात्मा के दो पहलू हैं : एक साइंस और दूसरा ईसाई धर्म । ब्रिटेन ने नीति और साइंस तथा टेक्नोलजी के आधार पर जो उन्नति और समृद्धि प्राप्त की थी उसे वे ईसाई धर्म का वरदान मानते थे । आज भी पश्चिम की दुनिया में बहुत लोग हैं जो हिंदू धर्म को भाग्यवादी समझते हैं, और ईसाई मत को कर्म और जीवन-विजय का संदेश मानते हैं ।

ग्रांट समझते थे कि अंग्रेजी भाषा और शिक्षा के माध्यम से भारत में बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक और विशेषकर आर्थिक परिवर्तन आएगा जिसके फलस्वरूप भारतीय लोग एक नई सभ्यता, नई संस्कृति और नए धर्म को अपनाएंगे । मानसिक स्वतंत्रता और आर्थिक उपलब्धियों के फलस्वरूप उनको अपने जीवन में सुख-शांति और समृद्धि की प्राप्ति होगी । इन्हीं के कारण उनको सामाजिक प्रतिष्ठा और सुदृढ़ता मिलेगी, ऐसी आशा वे करते थे । किंतु दूसरे लोग समझते थे कि भारत के धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप करना खतरे से खाली नहीं होगा, क्योंकि वहां की जनता इसको सहन नहीं करेगी । इसीलिए वे सरकारी तौर पर भाषा और शिक्षा के क्षेत्र में कोई नया कदम नहीं उठाना चाहते थे । भारतीय परंपरा के विरुद्ध वे उसे क्रांतिसूचक मानते थे जो आग से खेलने से कम नहीं था । किंतु ग्रांट इन विचारों से सहमत नहीं थे । उनका कहना था कि नई शिक्षा उनको अंग्रेजी के निकट लाकर ब्रिटेन के साथ एक नए सांस्कृतिक सूत्र में बांध देगी । दोनों पक्षों में भेद केवल विचारों और भावी संभावनाओं का था जो उस समय वास्तविकता के आधार पर नहीं आंका जा सकता था ।

सेठ के मंदिर में भी व्यापार की गंध आती है, ऐसा अक्सर माना जाता है । चार्ल्स ग्रांट शिक्षा, भाषा, धर्म और संस्कृति के प्रचार में व्यापार को नहीं भूले । धर्म और शिक्षा से कंपनी को जो आर्थिक लाभ होना था उन्होंने उसकी चर्चा भी की और कहा कि इस सारे आंदोलन में भगवान की कृपा से इतना लाभ होगा कि वारे-न्यारे हो जाएंगे । भगवान की यही इच्छा थी कि विश्व-विधाता के रूप में वह भारत को हमारे हाथ में सौंप दे । यह देश हमें केवल इसीलिए नहीं मिला है कि हम प्रतिवर्ष वहां से आर्थिक लाभ उठाएं, बल्कि इसलिए भी मिला है कि वहां की जनता को सत्य, विज्ञान, सामाजिक व्यवस्था, सुख-समृद्धि और कर्मण्यता का संदेश भी दें । ऐसा करने से हम न केवल पुण्य के भागी बनेंगे बल्कि उस मौलिक ध्येय की भी सिद्धि करेंगे जिसे लेकर हम प्रारंभ में भारत पहुंचे थे और जो ध्येय आज भी हमारे लिए अमूल्य है, और वह ध्येय है अपने व्यापार का विस्तार ।[4]

हमने पहले एक प्रश्न उठाया था : भाषा और सोना—इन दोनों का क्या संबंध है ? इस प्रश्न का उत्तर यहां स्पष्ट है । भाषा, शिक्षा और सभ्यता का निकटतम संबंध है । सभ्यता और साधन का संबंध है । ग्रांट ने आशा की थी और उनका दृढ़ विश्वास भी था कि अंग्रेजी भाषा,

4. देखिए : ट्रेवरलिंग, 'ए हिस्ट्री आफ रिलिजंस इन ईस्ट एंड वैस्ट' (मैकमिलन, 1968), पृ० 351

साहित्य और शिक्षा से सभ्यता का परिवर्तन होगा । नई सभ्यता के लिए नए साधन जुटाने पड़ेंगे । नए साधन अर्थात् नया सामान इंग्लैंड से आएगा । नए सामान का आयात होगा तो भारत का रुपया बाहर जाएगा । सोने की ईंटें भारत से निर्यात होकर इंग्लैंड में उतरेंगी । चार्ल्स ग्रांट ने ये सारी संभावनाएं अपने साथियों के सामने स्पष्ट रूप से रख दी थीं । किंतु भय और आशंकाओं का समाधान फिर भी नहीं हुआ । भय यह था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के माध्यम से भारतीयों को पाश्चात्य विचारधारा, ब्रिटिश इतिहास, उनकी सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था, स्वतंत्रता का विकास, पार्लमेंट और तत्संबंधी संस्थाओं एवं प्रतिष्ठानों का ज्ञान होगा । यदि ऐसा हो गया और आगे चलकर भारतीयों ने स्वयं स्वतंत्रता की मांग कर ली, तो ?

ग्रांट ने इन प्रश्नों और आशंकाओं का जवाब भी सोचा, और दिया भी । उन्होंने कहा कि नई भाषा और शिक्षा के माध्यम से वहां वैचारिक और सांस्कृतिक क्रांति आएगी तो अवश्य किंतु रहेगी मूल भारतीयता की परिधि के अंदर ही अर्थात् वह क्रांति खतरे की रेखा को कभी भी स्पर्श नहीं कर पाएगी । भारतीयों की आदतें, सोचने का ढंग, समाज-व्यवस्था और धार्मिक परंपरा इस बात की ओर संकेत करती है कि वे कभी विद्रोह नहीं करेंगे । शाकाहारी होने और गरम वातावरण में रहने के कारण वे इतने नरम पड़ गए हैं कि किसी को भी चुनौती नहीं दे सकते । इस शांति-संपन्न वातावरण में रहते-रहते वे इतने कमजोर पड़ गए हैं कि स्वतंत्रता के बारे में सोच भी नहीं सकते । उन्होंने कहा कि हमारे सभी भय और आशंकाएं निराधार हैं । भारत सदा के लिए ब्रिटेन का राजनीतिक अंग बना रहेगा ।

अंत में ग्रांट ने वास्तव में साहस की बात की । उन्होंने अपने साथियों को डंके की चोट यह कहा कि कांटे की बात एक है : हम भारत की जनता को नई शिक्षा, नया ज्ञान, नई रोशनी, नया सुख, नई समृद्धि की ओर ले जाएं या नहीं ? क्या उनको अपने साथ रखने के लिए अज्ञान और अंधकार में ही पड़े रहने दें ? क्या ऐसा केवल इसी कारण से करें कि कहीं वे हमारे राज को चुनौती न दे दें ? ऐसा करना हमारे लिए बड़ा ही अनैतिक और अशोभनीय होगा ।[5] यह मानसिक कायरता होगी । अंत में चार्ल्स ग्रांट ने ऊंचे नैतिक एवं मिशनरी साहस का परिचय दिया । उन्होंने कहा कि यदि भारतीय जनता अंग्रेजी शिक्षा और विचारधारा को अपना कर स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए आंदोलन करे और हमारे राज को चुनौती दे भी दे, तो भी हमें साहस और संतोष के साथ उस चुनौती का सामना करना होगा ।

ग्रांट, विल्बरफोर्स, जकारी मकाले और उनके साथी भारत में अंग्रेजी भाषा और शिक्षा पद्धति लागू करने के पक्ष में पार्लमेंटरी बहुमत तैयार करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहे ।

1793 में कंपनी का चार्टर अगले बीस वर्ष के लिए पुनर्नवीकरण के लिए पार्लमेंट के सामने आ रहा था । सदन के लिए उन्होंने एक प्रस्ताव तैयार किया जिसे दो भागों में बांटा : पहला परिचयात्मक और दूसरा क्रियात्मक । पहले अनुच्छेद में उन्होंने चार्ल्स ग्रांट की सारी विचार-माला का संक्षेप से आकलन कर दिया और दूसरे में कार्यनिर्देश । प्रस्ताव यह था :

5. सय्यद महमूद, 'हिस्ट्री आफ इंग्लिश एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 216-18

1. ब्रिटिश विधान परिषद् का विशेष और अनिवार्य कर्तव्य है कि हर उचित और समझदारी के तरीके से ब्रिटिश भारत के निवासियों के हितों और सुख-शांति की वृद्धि की जाए। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए ऐसे कदम उठाए जाएं जिनसे वे उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं धार्मिक और नैतिक उन्नति की दिशा में आगे बढ़ सकें।
2. कंपनी के कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ को साधिकार यह आदेश दिया जाता है कि ये उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए समय-समय पर पर्याप्त संख्या में उचित और दक्षता-प्राप्त लोगों का चयन करें और उनको स्कूल मास्टर, मिशनरी अथवा ऐसे ही किसी दूसरे रूप में सेवा करने के लिए बाहर (भारत) भेजें।[6]

पहले अनुच्छेद में राजसत्ता, धर्माग्रह, भाषाग्रह अथवा किसी भी दुर्भावना या दुराग्रह की ओर संकेत नहीं है, केवल सेवार्थ कार्योपलब्धियों की ओर प्रेरणार्थक संकेत है। बौद्धिक, धार्मिक और नैतिक उन्नति से संबद्ध किसी विशेष धर्म या आचारसंहिता की ओर भी संकेत नहीं है। किंतु दूसरे अनुच्छेद के अंदर 'आब्जर्वेशंज़' की पृष्ठभूमि के संदर्भ में स्कूल मास्टरों और मिशनरियों के चयन और नियुक्ति के निर्देश के कारण शिक्षा और धर्म-परिवर्तन की ओर पक्का संकेत है। कंपनी एवं ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार के शैक्षणिक अथवा धार्मिक परिवर्तन के कार्य के लिए सहमत होने को तैयार नहीं थी।

पार्लमेंट में जब यह बिल पेश किया गया तो पहला अनुच्छेद तो पारित कर दिया गया किंतु दूसरा अनुच्छेद अस्वीकृत कर दिया गया।[7]

ब्रिटिश सरकार कोई ऐसा नया कदम नहीं उठाना चाहती थी जिसकी प्रतिक्रिया संदिग्ध अथवा भयावह हो। वे पहले ही अमरीका में जोर-आजमाई कर चुके थे। अमरीका (यू०एस०ए०) के विरुद्ध वे 1773 में युद्ध हारकर अपनी राजसत्ता खो चुके थे। अमरीकी युद्ध का प्रारंभ ही इस प्रकार हुआ था कि ब्रिटिश पार्लमेंट ने जो कानून अमरीकन राज्यों के संबंध में बनाए थे वे उन राज्यों को मान्य नहीं थे। उन्हीं कानूनों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई उसी ने आगे चलकर क्रांति का रूप धारण कर लिया। उसी क्रांति-युद्ध को आज अमरीकन स्वतंत्रता युद्ध के नाम से पुकारा जाता है। इसी युद्ध के कटु अनुभव के आधार पर वे भारत में कोई नया प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं थे। रैंडल जैक्सन, जो पार्लमेंट के वरिष्ठ सदस्यों में से थे, ने बहस के दौरान कहा था कि हम अपनी शिक्षा और विचारधारा के फलस्वरूप अमरीकन राज्यों से हाथ धो बैठे हैं। हमें भारत में वैसा नहीं करना चाहिए।[8]

कंपनी और सरकार दोनों यह जानते थे कि भारत में अंग्रेजी सत्ता-प्रतिष्ठापन का जितना

6. जो०ए० रिक्टर, 'ए हिस्ट्री आफ मिशंज इन इंडिया', अनूदित एस०डब्ल्यू० मौर (लंदन, एडिनबरा, 1908), पृ० 149-50
7. 'जर्नल आव् दि हाउस आव् कामंज', 58, पृ० 776, 792, 803 एवं सर फिलिप हार्टोग, 'सम आस्पेक्ट्स आफ इंडियन एज्यूकेशन' (लंदन, 1935-6), पृ० 5
8. देखिए एस० एस० मुखर्जी, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया' (बड़ौदा, 1951), पृ० 32

कार्य संपन्न हो गया था उसी को बराबर बनाए रखना भी बिना भारी सेना के संभव नहीं था। ऐसा कार्नवालिस पहले ही लिख चुके थे। इससे आगे बढ़कर भाषा, शिक्षा, धर्म या संस्कृति के क्षेत्र में हस्तक्षेप करना वहां की जनता को भड़का सकता है। इसलिए उनको भड़काने की बजाय उनको किसी प्रकार संतुष्ट रखना ही हितकर होगा। स्मरण रहे कि बंगाल की दीवानी लेने से पहले कंपनी भारत से जो माल खरीदती थी उसके बदले वह भारत को प्रतिवर्ष चार से पांच लाख पाउंड तक का सोना भेजती थी। दीवानी मिलने के बाद 30 वर्ष में व्यापार के आयात माल की कीमत और शासन व्यवस्था का खर्चा निकालकर कंपनी ने पांच करोड़ पाउंड का लाभ कमाया। सोने की ईंटें भारत से बाहर जाकर इंग्लैंड में उतरने लगी थीं। लक्ष्मी और सरस्वती की प्रतिस्पर्धा कोई एकदेशीय थोड़ा ही है। ब्रिटिश संसद ने व्यापारी और राजनीतिक सूझ-बूझ के कारण राजसरस्वती का भी आह्वान नहीं किया।

कई अंग्रेज शासक और अफसर वास्तव में ऐसा मानते भी थे कि हिंदू और मुसलमानों की शिक्षा पद्धति, कानूनी, सामाजिक और शासकीय व्यवस्था उनकी अपनी परंपरा के अनुसार ठीक है और उसे ही चलाते रहना उनके लिए हितकर होगा। लार्ड हेस्टिंग्ज़ ऐसा ही मानते थे। उन्होंने इसी विषय पर लार्ड मैन्सफील्ड को पत्र भी लिखा था।[9] कई अंग्रेज भारतीय वेश-भूषा पहनते और हुक्का भी पीते थे। कई तो कालीपूजा में भी सम्मिलित हो लिया करते थे। पं० सुंदरलाल ने अपनी पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज' में इस विषय की काफी चर्चा की है और भारतीय वेशभूषा में अंग्रेज अफसरों की तस्वीरें भी छापी हैं। कई अंग्रेज साहित्य-प्रेमियों ने संस्कृत को भी अपनाया। सर विलियम जोंज् ने संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद अंग्रेजी में किया और 1785 में एशियाटिक सोसाइटी आव् बंगाल की स्थापना की। वे 'एशियाटिक रिसर्चज्' नाम की एक पत्रिका भी निकालते थे। हिंदू और मुसलमान कानून और परंपरा का आदर करते हुए ही उन्होंने कलकत्ता मदरसा की स्थापना की थी और जोनथन डंकन ने बनारस संस्कृत कालेज खोला था। यह सारा काम भारत में अंग्रेजी राज की जड़ें मजबूत करने के लिए तो किया ही गया था, किंतु साथ-साथ इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उस समय भारत और पश्चिम के सांस्कृतिक संबंधों का भी एक नया अध्याय प्रारंभ हो रहा था। भारतीय विद्वानों में इस विषय पर मतभेद रहा है कि यह सारा काम श्रद्धान्वित भावना से किया गया था, अथवा भारत की सांस्कृतिक विजय के प्रारूप के तौर पर किया गया था।

यद्यपि ग्रांट-विल्बरफोर्स का प्रस्ताव क्रियात्मक रूप में असफल रहा फिर भी पहली धारा के स्वीकार कर लिए जाने से शिक्षा-भाषा-संस्कृति विषय पर दिशा-निर्देश अवश्य हो गया। यह भी स्पष्ट हो गया कि यदि इस विषय पर पुनर्विचार किया गया तो शिक्षा के विषय होंगे—साइंस, कला-कौशल इत्यादि जो कि सामाजिक जीवन को उन्नत और सुखद बनाने में उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि इन उपयोगी विषयों के साथ धार्मिक और नैतिक उन्नति जुड़ी हुई थी और इस उन्नति विशेष के साथ ईसाइयत भी जुड़ गई थी। चार्ल्स ग्रांट

9. माइकल एडवर्ड्ज, 'ब्रिटिश इंडिया', 1772-1947', पृ० 72

आंतरिक रूप से ईसाई मिशनरी थे और व्यापारी तो थे ही । प्रस्ताव चाहे आंशिक रूप में गिर गया फिर भी यह स्पष्ट हो गया कि इस विषय पर विचार-विनिमय जारी रहेगा । यदि दूसरी धारा के गिर जाने का कारण था कंपनी सरकार की अनिश्चित अवस्था, तो आगे चलकर उचित समय आने पर सोचा जाएगा और भाषा एवं शिक्षा के माध्यम से धर्म-परिवर्तन या कम से कम संस्कृति-सभ्यता-परिवर्तन पर अवश्य ध्यान दिया जाएगा । पहला कदम उठाकर उसे भूमि पर टिकाना ही तो आवश्यक नहीं है, उसे वापस लेने की अपेक्षा रोका भी तो जा सकता है । इस विषय का अध्ययन हम आगे चलकर मकाले-ग्रांट संबंध, मकाले की प्रेरणा और उनके शिक्षा-विषयक प्रस्ताव की चर्चा के साथ करेंगे ।

ग्रांट ने कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए जिनकी चर्चा करना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि वे करीब दो सौ वर्ष पश्चात् आज भी प्रासंगिक और महत्त्वपूर्ण हैं और अभी तक उनका समाधान नहीं हो पाया है । हमारी स्मरण शक्ति इतनी कमजोर है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत एक के बाद दूसरे शिक्षा तथा भाषा आयोग वे ही पुराने प्रश्न उठाते रहे हैं और हम उन सब को नए प्रश्न मानते रहे हैं । और यदि हमने उनको नए प्रश्न नहीं भी माना तो एक और प्रश्न यह खड़ा होता है कि आज तक हम उनसे ऊब क्यों नहीं गए या उनका हल क्यों नहीं ढूंढ़ पाए या हल न मिल पाने पर उनके कारणों का विवेचन क्यों नहीं किया ? क्यों नहीं हमने यह सोचा कि हल न निकलने देने के लिए जिम्मेदार कौन है ? कम से कम हमने इतनी शक्ति जुटा ली होती कि हम यह कह देते कि क्योंकि सैकड़ों वर्षों से उनका हल नहीं मिल पा रहा है तो उन प्रश्नों को उठाना व्यर्थ है और हमें अपनी परिस्थितियों के अंदर रहते-रहते स्वयं उन्हीं सप्रश्न परिस्थितियों से ही जूझना चाहिए ? चार्ल्स ग्रांट के ये प्रश्न देशीय भाषाओं से संबद्ध हैं ।

ग्रांट देशीय भाषाओं को जंगली लोगों की भाषा मानते थे, लेकिन साथ ही वे यह भी कहते थे कि :

1. अंग्रेजी भाषा की सहायता से हमें देशी भाषाओं का विकास करके उनको समृद्ध बनाना पड़ेगा ।
2. देशीय भाषाओं में पाठ्य पुस्तकें तैयार करनी पड़ेंगी । इसीलिए अंग्रेजी से देशीय भाषाओं में अनुवाद भी करना पड़ेगा ।
3. नए शिक्षा कार्यक्रम के लिए अध्यापक तैयार करने पड़ेंगे जो द्विभाषी होंगे ।
4. यह सब इसलिए करना होगा क्योंकि अंततोगत्वा भारतीयों की शिक्षा के लिए भारतीय भाषाओं को ही शिक्षा-माध्यम के रूप में अपनाना होगा ।

इस काम के लिए 25 वर्ष का समय काफी समझा गया ।

ये ही बातें लार्ड मकाले ने भी दुहराईं 1835 में । 1854, 1881, 1902, 1915, 1917, 1919, 1927, 1948-49, 1956, 1964, 1986 में दुहराई गईं और आज भी दुहराई जा रही हैं, मानो हमारे शिक्षा-शास्त्री, शिक्षा आयोग और शिक्षाधिकारी 200 वर्ष से निष्काम भाव से माला फेर रहे हैं ।

3
बीस वर्ष बाद

ग्रांट हारे नहीं । आशा-निराशा के द्वंद्व में उन्हें केवल अपना लक्ष्य दिखाई देता रहा । जब भी कोई उनके मिशन अथवा मिशनरियों के विरुद्ध बात करता तो वे एक गंभीर झुंझलाहट के साथ पूछते थे : क्या तुम क्रास को कुचल देना चाहते हो ?[1] उनकी इस गंभीरता के पीछे था दृढ़ विश्वास, निरंतर परिश्रम और योजनाबद्ध कार्यक्रम । इसी कारण बीस साल बाद जब कंपनी का चार्टर फिर से संसद के सामने नवीनीकरण के लिए आया तो 43वें सेक्शन के अंतर्गत एक धारा पास की गई :

गवर्नर जनरल-इन-कौंसिल को वैधानिक रूप से अधिकार दिया जाता है कि वे यह आदेश दें कि कंपनी के बजट शेष में से कम से कम एक लाख रुपया अलग रखा जाए जो साहित्य के पुनरुद्धार और उन्नति के लिए, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन के लिए तथा अंग्रेजी राज की भारतीय जनता में विज्ञान के प्रचार और प्रसार के लिए खर्च किया जाए ।[2]

ऐसा माना गया था कि इस रुपए को खर्च करने के लिए कंपनी अपनी ही कोई व्यवस्था बनाएगी । चार्ल्स ग्रांट की सफलता का यह दूसरा चरण था ।

कंपनी प्रारंभ से ही सिद्धांत रूप में शिक्षा या मिशनरी काम के विरुद्ध नहीं थी । कंपनी की स्थापना के कुछ वर्ष पश्चात् 1614 में ही कंपनी ने कुछ भारतीयों को नियुक्त किया था ताकि वे भारतीय जनता में शिक्षा और ईसाई धर्म का प्रचार करें ।[3] 1659 में निदेशकों ने खुले शब्दों में यह कहा भी था कि कंपनी की प्रबल इच्छा है कि भारत में हर संभव तरीके से क्रिश्चियन धर्म का प्रचार किया जाए ।[4] 1698 के चार्टर एक्ट के अनुसार सरकार की ओर से कंपनी को यह आदेश दिया गया था कि वह अपनी हर फैक्टरी में और 500 टन या अधिक बड़े जहाज में एक या एक से अधिक पादरी की नियुक्ति करे ताकि वह कंपनी के कर्मचारियों को ईसाई धर्म के प्रोटेस्टेंट मत की शिक्षा दे सके ।[5] इस प्रकार कंपनी ईसाई धर्म का प्रचार करने

1. सी०एच० फिलिप्स, 'द ईस्ट इंडिया कंपनी, 1784-1834' (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1961), पृ० 162
2. डब्ल्यू०एच० शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 22
3. एन०एन० लॉ, 'प्रोमोशन आफ लर्निंग इन इंडिया बाई अर्ली यूरोपीयन सेट्लर्ज', पृ० 7-8
4. शार्प, 'सलेक्शंज़ फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पृ० 1, 3
5. सी० इलबर्ट, 'गवर्नमेंट आफ इंडिया', पृ० 29

के लिए काम तो करती थी किंतु वह सारा काम एक प्राइवेट व्यापारी संस्था के रूप में धर्मार्थ करती थी, न कि सरकारी संस्था के रूप में। वह काम भी पुण्यार्जन रूप में किया जाता था, न कि शिक्षा-प्रसार के रूप में। कंपनी द्वारा नियुक्त पादरियों के प्रयास से लोग ईसाई भी बनते थे किंतु अभी तक उस प्रचार कार्य के कोई राजनीतिक परिणाम नहीं निकले थे। यह काम इसी प्रकार छोटे स्तर पर सत्तरहवीं-अठारहवीं शती में भी चलता रहा था।

इसी समय दूसरी ईसाई मिशनरी संस्थाएं भी केवल धार्मिक स्तर पर अपना प्रचार-प्रसार कार्य कर रही थीं। वे धर्म-प्रचार के साथ-साथ छोटे-छोटे स्कूल भी चलाती थीं। इन संस्थाओं में विशेषकर गरीब परिवारों से बच्चे आते थे और छोटे-छोटे लालच अथवा सहायता मिलने की आशा में ही क्रिश्चियन बन जाते थे। ऐसे गरीब लोग जो क्रिश्चियन बनते थे उनको दूसरे लोग कई बार 'चावलार्थी ईसाई' (राइस क्रिश्चियन) के नाम से पुकारते थे क्योंकि वे पेट भरने के लालच में धर्म-परिवर्तन करते थे। जो संस्थाएं यह मिशन-कार्य करती थीं कंपनी उनकी भी सहायता करती थी। सेंट मेरी स्कूल, मद्रास (1715), चैरिटी स्कूल, मुंबई (1719), चैरिटी स्कूल, कलकत्ता (1720), फीमेल औरफन असाइलम और मेल असाइलम, मद्रास (1787), इंग्लिश चैरिटी स्कूल, तंजौर (1772), इंग्लिश चैरिटी स्कूल, रामनद तथा शिवगंगा (1785) ऐसे ही स्कूल थे। अठारहवीं शती में कंपनी ने कोई शिक्षा संबंधी काम सीधे अपने तत्त्वावधान में नहीं किया किंतु मिशनरी संस्थाओं द्वारा किए गए काम की सराहना अवश्य की और उनको ग्रांट भी दी। जो भी स्कूल अंग्रेजी माध्यम से पढ़ाते थे उनको कंपनी विशेष साधुवाद दिया करती थी क्योंकि वे कंपनी और भारतीय जनता के बीच संपर्क की भाषा अर्थात् अंग्रेजी का प्रसार कर रहे थे और यही कंपनी का वांछनीय लक्ष्य था।[6]

कंपनी ने जब तक निजी संस्थान के तौर पर काम किया तब तक वह मिशनरी काम में सहायता करती रही। किंतु जैसे ही 1765 में बंगाल की दीवानी मिली और तत्पश्चात् 1784 के पिट्स इंडिया ऐक्ट के पास होने पर और अधिक राजनीतिक अधिकार ब्रिटिश सरकार की ओर से मिले, कंपनी इस मामले में सतर्क हो गई और कंपनी सरकार ने मिशनरी संस्थाओं पर प्रतिबंध लगा दिए। इसी सावधानी के कारण हिंदू-मुसलमान जनता की सद्भावना प्राप्त करने के लिए कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज खोले गए थे और इसी के कारण 1793 के ग्रांट-प्रस्ताव की क्रियात्मक धारा गिरा दी गई थी।

राजसत्ता के रूप में कंपनी सरकार भारतीयों के प्रति जागरूक रहने लगी। अतः हिंदू और मुसलमान दोनों को प्रसन्न रखने का प्रयास किया गया। इसीलिए यह भी आवश्यक हो गया कि उन सारे कार्यों पर प्रतिबंध लगाए जाएं जिनके कारण भारत में अंग्रेजी सरकार के प्रति रोष उत्पन्न होने की आशंका हो। अतः मिशन कार्य और मिशनरीज की गतिविधियों पर प्रतिबंध लगाना आवश्यक हो गया। जनता गोरे अफसरों और गोरे पादरियों में कोई भेद नहीं समझती थी, विशेषकर इस कारण कि ईसाई संगत में आम तौर पर सरकारी अफसर भी उपस्थित होते थे और

6. शार्प, 'सलेक्शंज फ्रॉम एज्यूकेशनल रिकार्ड्स', पार्ट I, पृ० 3-4

उनसे पादरियों को सब प्रकार की सहायता भी मिलती थी। इसलिए कंपनी यह समझ गई थी कि यदि जनता पादरियों के काम से असंतुष्ट हो गई तो वह सरकार के प्रति भी रोष प्रकट कर सकती है। इसी संभावना के कारण 1783 में मिशनरीज के प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया गया। उनके लिए भारत आने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य कर दिया गया।

मिशनरीज ने दूसरा रास्ता पकड़ लिया। उन्होंने स्कूल के माध्यम से अपना काम करना प्रारंभ कर दिया। पहले तो वे बच्चों की मातृभाषा के माध्यम से पढ़ाते थे, अब उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से पढ़ाना शुरू कर दिया। मुख्य कारण यह था कि शिक्षा के माध्यम से वे बच्चों का मानसिक परिवर्तन कर देते थे, फिर अपनी दलील देकर ईसाई धर्म की शिक्षा देते और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे। इस प्रकार वे आहिस्ता-आहिस्ता बच्चों का धर्म-परिवर्तन भी कर लेते थे और साथ में कोई आर्थिक या सामाजिक लालच भी दे देते थे। अर्थात् सत्ताधारी गोरे लोगों के निकट आने का एक ही तरीका था : ईसाई बन जाओ। पादरियों को भी स्कूल के माध्यम से जनता और उनके बच्चों से संपर्क करने का अवसर मिलता था। स्कूल भवन एक प्रकार का चर्च ही बन गए। उनका प्रयोग शिक्षा-प्रचार की अपेक्षा धर्म-प्रचार के लिए अधिक किया जाने लगा।[7] कई बार ईसाई प्रचारक अपने प्रवचनों एवं प्रकाशनों में कठोर शब्दों का प्रयोग भी करते। फलस्वरूप कभी-कभी स्थानीय जनता द्वारा कड़ा विरोध किया जाता था। 1807 में उन्होंने 'एड्रेसिज टु हिंदूज एंड मौहम्मदंज' शीर्षक से एक पत्रिका छापी जिसमें हजरत मुहम्मद को झूठा पैगंबर कहा गया और हिंदू धर्म को मूर्तिपूजा, अंधविश्वास और अज्ञान का पुलिंदा मात्र कहा गया। इस प्रकार एक विशाल समाज के विरुद्ध दोजख का फतवा सादिर कर दिया गया। यह चिंता नहीं की गई कि ये लोग युग-युगों से अपने पूर्वजों की परंपरा, विचार-धारा एवं दर्शन के धनी हैं।[8]

1806 में बेलूर में कंपनी के हिंदुस्तानी सिपाहियों ने बगावत कर दी। पहले भी 1802 में कंपनी के भारतीय सिपाही अपने कमांडर से समुद्र पार करने से इंकार कर चुके थे। 1806 में उनको हुक्म मिला कि अपनी दाढ़ी को ठीक बनवा के स्मार्ट बनो और पगड़ी की जगह चमड़े की टोपी पहनो। अंग्रेज अफसर उनके तिलक या पगड़ी या दाढ़ी-मूंछ के धार्मिक महत्त्व को न समझकर इनको छोड़ने का हुक्म दे बैठे। भारतीय सिपाहियों ने सोचा कि कंपनी के अफसर हमारा धर्म छुड़वाकर हमें ईसाई बनाना चाहते हैं। सो उन्होंने बगावत कर दी और 370 में से 200 अंग्रेजों को मार डाला या घायल कर दिया।[9]

ऐसी घटनाओं से यही पता चलता है कि मिशनरी भारत में ईसाइयत की सेवा के लिए

7. आर०वाई० विल्डर, 'मिशन स्कूल्ज इन इंडिया', पृ० 36-37
8. एल०एस०एस० ओमैलो, 'मॉडर्न इंडिया एंड दि वैस्ट', पृ० 69। उद्धृत : एस०एन० मुकर्जी, 'हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 29
9. एस० एन० सेन, 'एटीन फिफ्टी सेवन' (भारत सरकार, 1957), पृ० 3 एवं फिलिप्स, 'दि ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 160

उतावले हो रहे थे और कंपनी उनकी गतिविधियों से चिंतित थी । इसीलिए संसद ने चार्ल्स ग्रांट की पूरी बात 1793 में नहीं मानी थी । वास्तव में तो 1783 से ही मिशनरियों और सरकार के बीच खिंचाव चल रहा था, वह 1793 के पश्चात् और बढ़ गया और यह भी कहा गया है कि 1793 से 1813 तक कंपनी ने किसी को नया परमिट नहीं दिया । बहुतों को भारत से निकाल दिया गया और मिशन स्कूलों को भी ग्रांट नहीं दी ।[10] बेलूर बगावत के संबंध में लार्ड एल्फिंस्टन, जो उस समय कंपनी के चेयरमैन थे, ने बोर्ड आफ कंट्रोल के अध्यक्ष को लिखा था कि बगावत इसलिए हुई है कि सिपाहियों की वर्दी में परिवर्तन का जो हुक्म दिया गया था उससे यह भयंकर आशंका फैल गई थी कि कंपनी जबरदस्ती लोगों का धर्म-परिवर्तन करवाएगी । साथ में टीपू सुल्तान के परिवार के सदस्य या जो उसके विश्वासपात्र सहायक उस समय बेलूर में थे, उन्होंने बगावत करवाई ऐसा भी कहा गया ।[11] सिपाहियों की वर्दी में परिवर्तन का आदेश सर जान क्रैडक ने प्रस्तावित किया था और उस आर्डर की स्वीकृति लार्ड विलियम बैंटिंक ने दी थी । अतः सर जॉन और विलियम बैंटिंक दोनों को बेलूर बगावत के लिए जिम्मेदार ठहराया गया । परिणामस्वरूप दोनों को वापस बुला लिया गया । सर जॉन फौज के कमांडर थे और विलियम बैंटिंक मद्रास के गवर्नर । दोनों चार्ल्स ग्रांट के मित्र भी थे, विशेषकर विलियम बैंटिंक । इन दोनों के वापस बुलाए जाने से ग्रांट को बड़ा दुख हुआ और मिशनरी एवं शिक्षा के काम को बड़ा धक्का भी पहुंचा । किंतु ग्रांट ने अपने आंदोलन को जारी रखने का फैसला किया । विल्बरफोर्स उनके साथ थे । उनके अतिरिक्त कंपनी के और बहुत लोग भी उनके साथ थे । उन्होंने 1809 तक सतत आंदोलन किया ।

अठारहवीं शती के उत्तरार्द्ध में विशेषकर चौथे चरण में इंग्लैंड में ही मिशनरी सेवा-कार्य बहुत हो रहा था । औद्योगिक क्रांति के बाद अमीर और गरीब के बीच का फासला बढ़ता जा रहा था । शिक्षा अनिवार्य रूप से सबको उपलभ्य नहीं थी । इसलिए प्राइवेट संस्थाएं मिशनार्थ शिक्षा-कार्य कर रही थीं । इंग्लैड में काम करने वाले मिशन-सेवी भारतीय जनता को भी इंग्लैड की जनता की तरह सेवा का पात्र समझते थे । इसलिए भारत में मिशन-सेवियों के प्रवेशार्थ एक आंदोलन चलाया गया । चार्ल्स ग्रांट के 'आब्जर्वेशंज़' का प्रकाशन 1797 में हो चुका था । उनका वितरण किया गया । सैकड़ों ज्ञापन और प्रार्थना एवं विरोध-पत्र संसद के सम्मुख रखे गए । विल्बरफोर्स ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया और सर जान शोर लार्ड टेनमथ ने इसका समर्थन किया । सरकार और पार्लमेंट दोनों इस आंदोलन का निरादर नहीं कर सके ।

कंपनी ने भी 1805 से लेकर 1809 तक अपनी मिशनरी-विरोधी नीति का पुनरवलोकन किया । 1805 में चार्ल्स ग्रांट कंपनी के चेयरमैन थे । 1809 में वे फिर चेयरमैन बने । 1807 से 1809 तक एडवर्ड पैरी कंपनी के चेयरमैन थे । पैरी के साथ ग्रांट डिप्टी चेयरमैन थे । पैरी और ग्रांट दोनों घनिष्ठ मित्र थे । दोनों ने मिलकर चार वर्ष तक भरसक प्रयत्न किया कि

10. नूरुल्ला और नायक, 'ए हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन इन इंडिया', पृ० 69
11. फिलिप्स, 'ईस्ट इंडिया कंपनी', पृ० 160

मिशन-सैवियों के विरुद्ध विशेषतः बेलूर बगावत के पश्चात् जो प्रतिक्रियात्मक राय बन गई थी उसका प्रतिकार किया जाए । साथ में यह भी कोशिश की कि जान क्रैडक और विशेषकर विलियम बैंटिंक पर जो धब्बा लग गया था उसे भी धोया जाए । अतः उन्होंने अपने साथियों से मिलकर विचार-विनिमय करना प्रारंभ किया ।

ग्रांट और पैरी दोनों एक बात में सफल हो गए : उन्होंने कुछ पत्रों के आधार पर कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ के द्वारा एक बात मनवा ली कि बेलूर में फौजी वर्दी संबंधी आदेश में वास्तविक गलती जान क्रैडक की थी । विलियम बैंटिंक की तो इतनी गलती थी कि उन्होंने क्रैडक पर बिना उचित विचार किए विश्वास कर लिया । उन्होंने यह भी मनवा लिया कि पूरी गलती वास्तव में क्रैडक की भी नहीं थी, ऐसे आदेश तो पहले से ही मौजूद थे और क्रैडक ने तो केवल उनका कार्यान्वयन किया था । आगे चलकर वे एक और बात मनवाने में सफल हो गए, वह यह थी कि बेलूर बगावत तो वास्तव में फौजी आदेश के कारण हुई ही नहीं थी; वह तो बेलूर-स्थित टीपू सुल्तान के परिवार और उनके समर्थकों के कारण हुई थी । बैंटिंक इस प्रकार पुराने लांछन से मुक्त हो गए । अन्यथा यही लांछन आगे चलकर उनके गवर्नर-जनरल बनने के रास्ते में खड़ा हो सकता था । ग्रांट ने मित्र का रास्ता साफ कर दिया ।

जन-स्मृति गोधूलि की तरह बहुत दूर तक नहीं चला करती । मिशन-सेवियों के विरुद्ध जो जनमत बना था वह आहिस्ता-आहिस्ता दबने लगा । ऐसे ही परिस्थितियों के ठीक होते-होते ग्रांट और पैरी एक और बात में सफल हो गए । उन्होंने बहुमत से कोर्ट आव् डायरेक्टर्ज़ से यह प्रस्ताव भी पास करवा लिया कि पहले की तरह कंपनी से अनुमति लेकर मिशनरी भारत आ सकेंगे । इस तरह करीब सोलह वर्ष के सतत प्रयत्न के पश्चात् ग्रांट फिर उसी स्थिति में आ गए जिसमें वे 1792 में थे ।

उसी समय में भारत में ब्रिटिश प्रशासन की स्थिति बहुत बदल गई थी । मैसूर युद्ध के पश्चात् दक्षिण पर कंपनी का कब्जा पक्का हो गया था । कंपनी के फ्रांसीसी और पुर्तगाली प्रतिरोधी समाप्त हो चुके थे । लार्ड कार्नवालिस ने 1789 में यह भय व्यक्त किया था कि बिना बड़ी भारी सेना के इस देश को संभालना दुष्कर होगा । उसी लार्ड कार्नवालिस ने लिखा कि हमने अपने शत्रुओं की कमर तोड़ दी है और अपने मित्रों को अधिक उभरने नहीं दिया है ।[12] जब लार्ड वेल्जली गवर्नर-जनरल बन कर आए तो उन्होंने बहुत सारे निःसंतान रजवाड़ों को अपने अधिकार में ले लिया । उन्होंने संतोष व्यक्त करते हुए लिखा कि निजाम हमारे साथ आ गए हैं, टीपू को समाप्त कर दिया गया है और फ्रांसीसी शक्ति का दक्षिण में अंत हो गया है ।[13]

ब्रिटिश सरकार एवं कंपनी ने इस कारण मिशनरियों को दबाया था कि उनके धर्म-प्रसार से कहीं भारतीय जनता भड़क न उठे । वेल्जली ने इस विषय पर भी लिखा कि हमारे साथी हमारी न्यायप्रियता और विचार-संतुलन में विश्वास करते हैं और हम से सुरक्षा की आशा करते हैं ।

12. रॉबर्ट्स, 'हिस्ट्री आफ ब्रिटिश इंडिया', पृ० 235
13. वही, पृ० 246